वाङ्चू

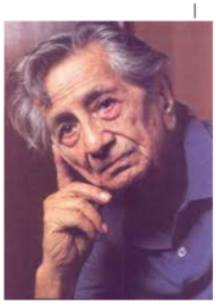

भीष्म साहनी

वाङ्चू

तभी दूर से वाङ्चू आता दिखाई दिया।

नदी के किनारे, लालमंडी की सड़क पर धीरे-धीरे डोलता-सा चला आ रहा था। धूसर रंग का चोगा पहने था और दूर से लगता था कि बौद्ध भिक्षुओं की ही भाँति उसका सिर भी घुटा हुआ है। पीछे शंकराचार्य की ऊँची पहाड़ी थी और ऊपर स्वच्छ नीला आकाश। सड़क के दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे सफेदे के पेड़ों की कतारें। क्षण-भर के लिए मुझे

लगा, जैसे वाङ्चू इतिहास के पन्नों पर से उतर कर आ गया है। प्राचीनकाल में इसी भाँति देश-विदेश से आनेवाले चीवरधारी भिक्षु पहाड़ों और घाटियों को लाँघ कर भारत में आया करते होंगे। अतीत के ऐसे ही रोमांचकारी धुँधलके में मुझे वाङ्चू भी चलता हुआ नजर आया। जब से वह श्रीनगर में आया था, बौद्ध विहारों के खंडहरों और संग्रहालयों में घूम रहा था। इस समय भी वह लालमंडी के संग्रहालय में से निकल कर आ रहा था जहाँ बौद्धकाल के अनेक अवशेष रखे हैं। उसकी मनःस्थिति को देखते हुए लगता, वह सचमुच ही वर्तमान से कट कर अतीत के ही किसी कालखंड में विचर रहा था।

'बोधिसत्वों से भेंट हो गई?' पास आने पर मैंने चुटकी ली।

वह मुस्करा दिया, हल्की टेढ़ी-सी मुस्कान, जिसे मेरी मौसेरी बहन डेढ़ दाँत की मुस्कान कहा करती थी, क्योंकि मुस्कराते वक्त वाङ्चू का ऊपर का होंठ केवल एक ओर से थोड़ा-सा ऊपर को उठता था।

'संग्रहालय के बाहर बहुत-सी मूर्तियाँ रखी हैं। मैं वही देखता रहा।' उसने धीमे से कहा, फिर वह सहसा भावुक हो कर बोला, 'एक मूर्ति के केवल पैर ही पैर बचे हैं...

मैंने सोचा, आगे कुछ कहेगा, परंतु वह इतना भावविह्वल हो उठा था कि उसका गला रुँध गया और उसके लिए बोलना असंभव हो गया।

हम एक साथ घर की ओर लौटने लगे।

'महाप्राण के भी पैर ही पहले दिखाए जाते थे।' उसने काँपती-सी आवाज में कहा और अपना हाथ मेरी कोहनी पर रख दिया। उसके हाथ का हल्का-सा कंपन धड़कते दिल की तरह महसूस हो रहा था।

'आरम्भ में महाप्राण की मूर्तियाँ नहीं बनाई जाती थीं ना! तुम तो जानते हो, पहले स्तूप के नीचे केवल पैर ही दिखाए जाते थे। मूर्तियाँ तो बाद में बनाई जाने लगी थीं।'

जाहिर है, बोधिसत्त्व के पैर देख कर उसे महाप्राण के पैर याद हो आए थे और वह भावुक हो उठा था। कुछ पता नहीं चलता था, कौन-सी बात किस वक्त वाङ्चू को पुलकाने लगे, किस वक्त वह गदगद होने लगे।

'तुमने बहुत देर कर दी। सभी लोग तुम्हारा इंतजार कर रहे हैं। मैं चिनारों के नीचे भी तुम्हें खोज आया हूँ।' मैंने कहा।

'मैं संग्रहालय में था...'

'वह तो ठीक है, पर दो बजे तक हमें हब्बाकदल पहुँच जाना चाहिए, वरना जाने का कोई लाभ नहीं।'

उसने छोटे-छोटे झटकों के साथ तीन बार सिर हिलाया और कदम बढ़ा दिए।

वाङ्चू भारत में मतवाला बना घूम रहा था। वह महाप्राण के जन्मस्थान लुंबिनी की यात्रा नंगे पाँव कर चुका था, सारा रास्ता हाथ जोड़े हुए। जिस-जिस दिशा में महाप्राण के चरण उठे थे, वाङ्चू मंत्रमुग्ध-सा उसी-उसी दिशा में घूम आया था। सारनाथ में, जहाँ महाप्राण ने अपना पहला प्रवचन दिया था और दो मृगशावक मंत्रमुग्ध-से झाड़ियों में से निकल कर उनकी ओर देखते रह गए थे, वाङ्चू एक पीपल के पेड़ के नीचे घंटों नतमस्तक बैठा रहा था, यहाँ तक कि उसके कथानुसार उसके मस्तक से अस्फुट - से वाक्य गूँजने लगे थे और उसे लगा था, जैसे महाप्राण का पहला प्रवचन सुन रहा है। वह इस भक्तिपूर्ण कल्पना में इतना गहरा डूब गया था कि सारनाथ में ही रहने लगा था। गंगा की धार को वह दसियों शताब्दियों के धुँधलके में पावन जलप्रवाह के रूप में देखता। जब से श्रीनगर में आया था, बर्फ के ढ़के पहाड़ों की चोटियों की ओर देखते हुए अक्सर मुझसे कहता - वह रास्ता ल्हासा को जाता है ना, उसी रास्ते बौद्ध ग्रंथ तिब्बत में भेजे गए थे। वह उस पर्वतमाला को भी पुण्य-पावन मानता था क्योंकि उस पर बिछी पगडंडियों के रास्ते बौद्ध भिक्षु तिब्बत की ओर गए थे।

वाङ्चू कुछ वर्षों पहले वृद्ध प्रोफेसर तानशान के साथ भारत आया था। कुछ दिनों तक तो वह उन्हीं के साथ रहा और हिंदी और अंग्रेजी भाषाओं का अध्ययन करता रहा, फिर प्रोफेसर शान चीन लौट गए और वह यहीं बना रहा और किसी बौद्ध सोसाइटी से अनुदान प्राप्त कर सारनाथ में आ कर बैठ गया। भावुक, काव्यमयी प्राकृति का जीवन, जो प्राचीनता के मनमोहक वातावरण में विचरते रहना चाहता था... वह यहाँ तथ्यों की खोज करने कहीं आया था, वह तो बोधिसत्त्वों की मूर्तियों को देख कर गदगद होने आया था। महीने-भर से संग्रहालयों से चक्कर काट रहा था, लेकिन उसने कभी नहीं बताया कि बौद्ध धर्म की किस शिक्षा से उसे सबसे अधिक प्ररेणा मिलती है। न तो वह किसी तथ्य को पा कर उत्साह से खिल उठता, न उसे कोई संशय परेशान करता। वह भक्त अधिक और जिज्ञासु कम था।

मुझे याद नहीं कि उसने हमारे साथ कभी खुल कर बात की हो या किसी विषय पर अपना मत पेश किया हो। उन दिनों मेरे और मेरे दोस्तों के बीच घंटों बहसें चला करतीं, कभी देश की राजनीति के बारे में, कभी धर्म मे बारे में, लेकिन वाङ्चू इनमें

कभी भाग नहीं लेता था। वह सारा वक्त धीमे-धीमे मुस्कराता रहता और कमरे के एक कोने में दुबक कर बैठा रहता। उन दिनों देश में वलवलों का सैलाब-सा उठ रहा था। स्वतंत्रता-आंदोलन कौन-सा रुख पकड़ेगा। क्रियात्मक स्तर पर तो हम लोग कुछ करते-कराते नहीं थे, लेकिन भावनात्मक स्तर पर उसके साथ बहुत कुछ जुड़े हुए थे। इस पर वाङ्चू की तटस्थता कभी हमें अखरने लगाती, तो कभी अचम्भे में डाल देती। वह हमारे देश की ही गतिविधि के बारे में नहीं, अपने देश की गतिविधि में भी कोई विशेष दिलचस्पी नहीं लेता था। उससे उसके अपने देश के बारे में भी पूछो, तो मुस्कराता सिर हिलाता रहता था।

कुछ दिनों से श्रीनगर की हवा भी बदली हुई थी। कुछ मास पहले यहाँ गोली चली थी। कश्मीर के लोग महाराजा के खिलाफ उठ खड़े हुए थे और अब कुछ दिनों से शहर में एक नई उत्तेजना पाई जाती थी। नेहरू जी श्रीनगर आनेवाले थे और उनका स्वागत करने के लिए नगर को दुल्हन की तरह सजाया जा रहा था। आज ही दोपहर को नेहरू जी श्रीनगर पहुँच रहे हैं। नदी के रास्ते नावों के जुलूस की शक्ल में उन्हें लाने की योजना थी और इसी कारण मैं वाङ्चू को खोजता हुआ उस ओर आ निकला था।

हम घर की ओर बढ़े जा रहे थे, जब सहसा वाङ्चू ठिठक कर खड़ा हो गया।

'क्या मेरा जाना बहुत जरूरी है? जैसा तुम कहो...'

मुझे धक्का-सा लगा। ऐसे समय में, जब लाखों लोग नेहरू जी के स्वागत के लिए इकट्ठे हो रहे थे, वाङ्चू का यह कहना कि अगर वह साथ न जाए, तो कैसा रहे, मुझे सचमुच बुरा लगा। लेकिन फिर स्वयं ही कुछ सोच कर उसने अपने आग्रह को दोहराया नहीं और हम घर की ओर साथ-साथ जाने लगे। कुछ देर बाद हब्बाकदल के पुल के निकट लाखों की भीड़ में हम लोग खड़े थे - मैं, वाङ्चू तथा मेरे दो-तीन मित्र। चारों ओर जहाँ तक नजर जाती, लोग ही लोग थे - मकानों की छतों पर, पुल पर, नदी के ढलवाँ किनारों पर। मैं बार-बार कनखियों से वाङ्चू के चेहरे की ओर देख रहा था कि उसकी क्या

प्रतिक्रिया हुई है, कि हमारे दिल में उठनेवाले वलवलों का उस पर क्या असर हुआ है। यों भी यह मेरी आदत-सी बन गई है, जब भी कोई विदेशी साथ में हो मैं उसके चेहरे का भाव पढ़ने की कोशिश करता रहता हूँ कि हमारे रीति-रिवाज, हमारे जीवनयापन के बारे में उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है। वाङ्चू अधमुँदी आँखों से सामने का दृश्य देखे जा रहा था। जिस समय नेहरू जी की नाव सामने आई, तो जैसे मकानों की छतें भी हिल उठीं। राजहंस शक्ल की सफेद नाव में नेहरू जी स्थानीय नेताओं के साथ खड़े

हाथ हिला-हिला कर लोगों का अभिवादन कर रहे थे। और हवा में फूल ही फूल बिखर गए। मैंने पलट कर वाङ्चू के चेहरे की ओर देखा। वह पहले ही की तरह निश्चेष्ट-सा सामने का दृश्य देखे जा रहा था।

'आपको नेहरू जी कैसे लगे?' मेरे एक साथी ने वाङ्चू से पूछा।

वाङ्चू ने अपनी टेढ़ी-सी आँखें उठा कर चेहरे की ओर देखा, फिर अपनी डेढ़ दाँत की मुस्कान के साथ कहा, 'अच्चा, बहुत अच्चा!'

वाङ्चू मामूली-सी हिंदी और अंग्रेजी जानता था। अगर तेज बोलो, तो उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ता था।

नेहरू जी की नाव दूर जा चुकी थी लेकिन नावों का जुलूस अभी भी चलता जा रहा था, जब वाङ्चू सहसा मुझसे बोला, 'मैं थोड़ी देर के लिए संग्रहालय में जाना चाहूँगा। इधर से रास्ता जाता है, मैं स्वयं चला जाऊँगा।' और वह बिना कुछ कहे, एक बार अधमिची आँखों से मुस्काया और हल्के से हाथ हिला कर मुड़ गया।

हम सभी हैरान रह गए। इसे सचमुच जुलूस में रुचि नहीं रही होगी जो इतनी जल्दी संग्रहालय की ओर अकेला चल दिया है।

'यार, किस बूदम को उठा लाए हो? यह क्या चीज है? कहाँ से पकड़ लाए हो इसे?' मेरे एक मित्र ने कहा।

'बाहर का रहनेवाला है, इसे हमारी बातों में कैसे रुचि हो सकती है!' मैंने सफाई देते हुए कहा।

'वाह, देश में इतना कुछ हो रहा हो और इसे रुचि न हो!'

वाङ्चू अब तक दूर जा चुका था और भीड़ में से निकल कर पेड़ों की कतार के नीचे आँखों से ओझल होता जा रहा था।

'मगर यह है कौन?' दूसरा एक मित्र बोला, 'न यह बोलता है, न चहकता है। कुछ पता नहीं चलता, हँस रहा है या रो रहा है। सारा वक्त एक कोने में दुबक कर बैठा रहता है।'

'नहीं, नहीं बड़ा समझदार आदमी है। पिछले पाँच साल से यहाँ पर रह रहा है। बड़ा पढ़ा-लिखा आदमी है। बौद्ध धर्म के बारे में बहुत कुछ जानता है।' मैंने फिर उसकी सफाई देते हुए कहा।

मेरी नजर में इस बात का बड़ा महत्व था कि वह बौद्ध ग्रंथ बाँचता है और उन्हें बाँचने के लिए इतनी दूर से आया है।

'अरे भाड़ में जाए ऐसी पढ़ाई। वाह जी, जुलूस को छोड़ कर म्यूजियम की ओर चल दिया है!'

'सीधी-सी बात है यार!' मैंने जोड़ा, 'इसे यहाँ भारत का वर्तमान खींच कर नहीं लाया, भारत का अतीत लाया है। ह्यूनत्सांग भी तो यहाँ बौद्ध ग्रंथ ही बाँचने आया था। यह भी शिक्षार्थी है। बौद्ध मत में इसकी रुचि है।'

घर लौटते हुए हम लोग सारा रास्ता वाङ्चू की ही चर्चा करते रहे। अजय का मत था, अगर वह पाँच साल भारत में काट गया है, तो अब वह जिंदगी-भर यहीं पर रहेगा।

'अब आ गया है, तो लौट कर नहीं जाएगा। भारत मे एक बार परदेशी आ जाए, तो लौटने का नाम नहीं लेता।'

'भारत देश वह दलदल है कि जिसमें एक बार बाहर के आदमी का पाँव पड़ जाए, तो धँसता ही चला जाता है, निकलना चाहे भी तो नहीं निकल सकता!'

दिलीप ने मजाक में कहा, 'न जाने कौन-से कमल-फूल तोड़ने के लिए इस दलदल में घुसा है!'

'हमारा देश हम हिंदुस्तानियों को पसंद नहीं, बाहर के लोगों को तो बहुत पसंद है।' मैंने कहा।

'पसंद क्यों न होगा! यहाँ थोडे में गुजर हो जाती है, सारा वक्त धूप खिली रहती है, फिर बाहर के आदमी को लोग परेशान नहीं करते, जहाँ बैठा वहीं बैठा रहने देते हैं। इस पर उन्हें तुम जैसे झुड्डू भी मिल जाते हैं जो उनका गुणगान करते रहते हैं और उनकी आवभगत करते रहते हैं। तुम्हारा वाङ्चू भी यहीं पर मरेगा...।'

हमारे यहाँ उन दिनों मेरी छोटी मौसेरी बहन ठहरी हुई थी, वही जो वाङ्चू की मुस्कान को डेढ़ दाँत की मुस्कान कहा करती थी। चुलबुली-सी लड़की बात-बात पर ठिठोली करती रहती थी। मैंने दो-एक बार वाङ्चू को कनखियों से उसकी ओर देखते पाया था, लेकिन कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, क्योंकि वह सभी को कनखियों से ही देखता था। पर उस शाम नीलम मेरे पास आई और बोली, 'आपके दोस्त ने मुझे उपहार दिया है। प्रेमोपहार!'

मेरे कान खड़े हो गए, 'क्या दिया है?'

'झूमरों का जोड़ा।'

और उसने दोनों मुट्ठियाँ खोल दीं जिनमें चाँदी के कश्मीरी चलन के दो सफेद झूमर चमक रहे थे। और फिर वह दोनों झूमर अपने कानों के पास ले जा कर बोली, 'कैसे लगते हैं?'

मैं हत्बुद्धि-सा नीलम की ओर देख रहा था।

'उसके अपने कान कैसे भूरे-भूरे हैं!' नीलम ने हँस कर कहा।

'किसके?'

'मेरे इस प्रेमी के।'

'तुम्हें उसके भूरे कान पसंद हैं?'

'बहुत ज्यादा। जब शरमाता है, तो ब्राउन हो जाते हैं गहरे ब्राउन।' और नीलम खिलखिला कर हँस पड़ी।

लड़कियाँ कैसे उस आदमी के प्रेम का मजाक उड़ा सकती है, जो उन्हें पसंद न हो! या कहीं नीलम मुझे बना तो नहीं रही है?

पर मैं इस सूचना से बहुत विचलित नहीं हुआ था। नीलम लाहौर में पढ़ती थी और वाङ्चू सारनाथ में रहता था और अब वह हफ्ते-भर में श्रीनगर से वापस जानेवाला था। इस प्रेम का अंकुर अपने-आप ही जल-भुन जाएगा।

'नीलम, ये झूमर तो तुमने उससे ले लिए हैं, पर इस प्रकार की दोस्ती अंत में उसके लिए दुखदायी होगी। बने-बनाएगा कुछ नहीं।'

'वाह भैया, तुम भी कैसे दकियानूस हो! मैंने भी चमड़े का एक राइटिंग पैड उसे उपहार में दिया है। मेरे पास पहले से पड़ा था, मैंने उसे दे दिया। जब लौटेगा तो प्रेम-पत्र लिखने में उसे आसानी होगी।'

'वह क्या कहता था?'

'कहता क्या था, सारा वक्त उसके हाथ काँपते रहे और चेहरा कभी लाल होता रहा, कभी पीला। कहता था, मुझे पत्र लिखना, मेरे पत्रों का जवाब देना। और क्या कहेगा बेचारा, भूरे कानोंवाला।'

मैंने ध्यान से नीलम की ओर देखा, पर उसकी आँखों में मुझे हँसी के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं दिया। लड़कियाँ दिल की बात छिपाना खूब जानती हैं। मुझे लगा, नीलम उसे बढ़ावा दे रही है। उसके लिए वह खिलवाड़ था, लेकिन वाङ्चू जरूर इसका दूसरा ही अर्थ निकालेगा। इसके बाद मुझे लगा कि वाङ्चू अपना संतुलन खो रहा है। उसी रात मैं अपने कमरे की खिड़की के पास खड़ा बाहर मैदान में चिनारों की पांत की ओर देख रहा था, जब चाँदनी में, कुछ दूरी पर पेड़ों के नीचे मुझे वाङ्चू टहलता दिखाई दिया। वह अक्सर रात को देर तक पेड़ों के नीचे टहलता रहता था। पर आज वह अकेला नहीं था। नीलम भी उसके साथ ठुमक-ठुमक कर चलती जा रही थी। मुझे नीलम पर गुस्सा आया। लड़कियाँ कितनी जालिम होती हैं! यह जानते हुए भी कि इस खिलवाड़ से वाङ्चू की बेचैनी बढ़ेगी, वह उसे बढ़ावा दिए जा रही थी।

दूसरे रोज खाने की मेज पर नीलम फिर उसके साथ ठिठोली करने लगी। किचन में से एक चैड़ा-सा एलुमीनियम का डिब्बा उठा लाई। उसका चेहरा तपे ताँबे जैसा लाल हो रहा था।

'आपके लिए रोटियाँ और आलू बना लाई हूँ। आम के अचार की फाँक भी रखी है। आप जानते हैं फाँक किसे कहते हैं? एक बार कहो तो 'फाँक'। कहो वाङ्चू जी, 'फाँक'!' उसने नीलम की ओर खोई-खोई आँखों से देखा और बोला, 'बाँक!'

हम सभी खिलखिला कर हँस पड़े।

'बाँक नहीं, फाँक!'

फिर हँसी का फव्वारा फूट पड़ा।

नीलम ने डिब्बा खोला। उसमें से आम के अचार का टुकड़ा निकाल कर उसे दिखाते हुए बोली, 'यह है फाँक, फाँक इसे कहते हैं!' और उसे वाङ्चू की नाक के पास ले जा कर बोली, 'इसे सूँघने पर मुँह में पानी भर आता है। आया मुँह में पानी? अब कहो, 'फाँक'!'

'नीलम, क्या फिजूल बातें कर रही हो! बैठो आराम से!' मैंने डाँटते हुए कहा।

नीलम बैठ गई, पर उसकी हरकतें बंद नहीं हुई। बड़े आग्रह से वाङ्चू से कहने लगी, 'बनारस जा कर हमें भूल नहीं जाइएगा। हमें खत जरूर लिखिएगा और अगर किसी चीज की जरूरत हो तो संकोच नहीं कीजिएगा।'

वाङ्चू शब्दों के अर्थ तो समझ लेता था लेकिन उनके व्यंग्य की ध्वनि वह नहीं पकड़ पाता था। वह अधिकाधिक विचलित महसूस कर रहा था।

'भेड़ की खाल की जरूरत हो या कोई नमदा या अखरोट...'

'नीलम!'

'क्यों भैया, भेड़ की खाल पर बैठ कर ग्रंथ बाँचेगे!'

वाङ्चू के कान लाल होने लगे। शायद पहली बार उसे भास होने लगा था कि नीलम ठिठोली कर रही है। उसके कान सचमुच भूरे रंग के हो रहे थे, जिनका नीलम मजाक उड़ाया करती थी।

'नीलम जी, आप लोगों ने मेरा बड़ा अतिथि-सत्कार किया है। मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ।'

हम सब चुप हो गए। नीलम भी झेंप-सी गई। वाङ्चू ने जरूर ही उसकी ठिठोली से समझ लिया होगा। उसके मन को जरूर ठेस लगी होगी। पर मेरे मन में यह विचार भी उठा कि एक तरह से यह अच्छा ही है कि नीलम के प्रति उसकी भावना बदले, वरना उसे ही सबसे अधिक परेशानी होगी। शायद वाङ्चू अपनी स्थिति को जानते-समझते हुए भी एक स्वाभाविक आकर्षण की चपेट में आ गया था। भावुक व्यक्ति का अपने पर कोई काबू नहीं होता। वह पछाड़ खा कर गिरता है, तभी अपनी भूल को समझ पाता है। सप्ताह के अंतिम दिनों में वह रोज कोई-न-कोई उपहार ले कर आने लगा। एक बार मेरे लिए भी एक चोगा ले आया और बच्चों की तरह जिद करने लगा कि मैं और वह अपना-अपना चोगा पहन कर एक साथ घूमने जाएँ। संग्रहालय में वह अब भी जाता था, दो-एक बार नीलम को भी अपने साथ ले गया था और लौटने पर सारी शाम नीलम बोधिसत्त्वों की खिल्ली उड़ाती रही थीं मैं मन-ही-मन नीलम के इस व्यवहार का स्वागत ही करता रहा, क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि वाङ्चू की कोई भावना हमारे घर में जड़ जमा पाए। सप्ताह बीत गया और वाङ्चू सारनाथ लौट गया।

वाङ्चू के चले जाने के बाद उसके साथ मेरा संपर्क वैसा ही रहा, जैसा आमतौर पर एक परिचित व्यक्ति के साथ रहता है। गाहे-ब-गाहे कभी खत आ जाता, कभी किसी आते-जाते व्यक्ति से उसकी सूचना मिल जाती। वह उन लोगों में से था, जो बरसों

तक औपचारिक परिचय की परिधि पर ही डोलते रहते हैं, न परिधि लाँघ कर अंदर आते हैं और न ही पीछे हट कर आँखों से ओझल होते हैं। मुझे इतनी ही जानकारी रही कि उसकी समतल और बँधी-बँधाई दिनचर्या में कोई अंतर नहीं आया। कुछ देर तक मुझे कुतूहल-सा बना रहा कि नीलम और वाङ्चू के बीच की बात आगे बढ़ी या नहीं, लेकिन लगा कि वह प्रेम भी वाङ्चू के जीवन पर हावी नहीं हो पाया।

बरस और साल बीतते गए। हमारे देश में उन दिनों बहुत कुछ घट रहा था। आए दिन सत्यग्रह होते, बंगाल में दुर्भिक्ष फूटा, 'भारत छोड़ो' का आंदोलन हुआ, सड़कों पर गोलियाँ चलीं, बंबई में नाविकों का विद्रोह हुआ, देश में खूरेजी हुई, फिर देश का बँटवारा हुआ, और सारा वक्त वाङ्चू सारनाथ में ही बना रहा। वह अपने में संतुष्ट जाना पड़ता था। कभी लिखता कि तंत्रज्ञान का अध्ययन कर रहा है, कभी पता चलता कि कोई पुस्तक लिखने की योजना बना रहा है।

इसके बाद मेरी मुलाकात वाङ्चू से दिल्ली में हुई। यह उन दिनों की बात है, जब चीन के प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई भारत-यात्रा पर आनेवाले थे। वाङ्चू अचानक सड़क पर मुझे मिल गया और मैं उसे अपने घर ले आया। मुझे अच्छा लगा कि चीन के प्रधानमंत्री के आगमन पर वह सारनाथ से दिल्ली चला आया है। पर जब उसने मुझे बताया कि वह अपने अनुदान के सिलसिले में आया है और यहीं पहुँचने पर उसे चाऊ-एन-लाई के आगमन की सूचना मिली है, तो मुझे उसकी मनोवृत्ति पर अचंभा हुआ। उसका स्वभाव वैसा-का-वैसा ही था। पहले की ही तरह हौले-हौले अपनी डेढ़ दाँत की मुस्कान मुस्कराता रहा। वैसा ही निश्चेष्ट, असंपृक्त। इसी बीच उसने कोई पुस्तक अथवा लेखादि भी नहीं लिखे थे। मेरे पूछने पर इस काम में उसने कोई विशेष रुचि भी नहीं दिखाई। तंत्रज्ञान की चर्चा करते समय भी वह बहुत चहका नहीं। दो-एक ग्रंथों के बारे में बताता रहा, जिसमें से वह कुछ टिप्पणियाँ लेता रहा था। अपने किसी लेख की भी चर्चा उसने की, जिस पर वह अभी काम कर रहा था। नीलम के साथ उसकी चिट्ठी-पत्री चलती रही, उसने बताया, हालाँकि नीलम कब की ब्याही जा चुकी थी और दो बच्चो की माँ बन चुकी थी। समय की गति के साथ हमारी मूल धारणाएँ भले ही न बदलें, पर उनके आग्रह और उत्सुकता में स्थिरता-सी आ गई थी पहले जैसी भावविह्वलता नहीं थी। बोधिसत्त्वों के पैरों पर अपने प्राण निछावर नहीं करता फिरता था। लेकिन अपने जीवन से संतुष्ट था। पहले की ही भाँति थोड़ा खाता, थोड़ा पढ़ता, थोड़ा भ्रमण करता और थोड़ा सोता था। और दूर लड़कपन से झुटपुटे में किसी भावावेश में चुने गए अपने जीवन-पथ पर कछुए की चाल मजे से चलता आ रहा था।

खाना खाने के बाद हमारे बीच बहस छिड़ गई - 'सामाजिक शक्तियों को समझे बिना तुम बौद्ध धर्म को भी कैसे समझ पाओगे? ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र एक-दूसरे से जुड़ा है, जीवन से जुड़ा है। कोई चीज जीवन से अलग नहीं है। तुम जीवन से अलग हो कर धर्म को भी कैसे समझ सकते हो?'

कभी वह मुस्कराता, कभी सिर हिलाता और सारा वक्त दार्शनिकों की तरह मेरे चेहरे की ओर देखता रहा। मुझे लग रहा था कि मेरे कहे का उस पर कोई असर नहीं हो रहा, कि चिकने घड़े पर मैं पानी उँड़ेले जा रहा हूँ।

'हमारे देश में न सही, तुम अपने देश के जीवन में तो रुचि लो! इतना जानो-समझो कि वहाँ पर क्या हो रहा है!'

इस पर भी वह सिर हिलाता और मुस्कराता रहा। मैं जानता था कि एक भाई को छोड़ कर चीन में उसका कोई नहीं है। 1929 में वहाँ पर कोई राजनीतिक उथल-पुथल हुई थी, उसमें उसका गाँव जला डाला गया था और सब सगे-संबंधी मर गए थे या भाग गए थे। ले-दे कर एक भाई बचा था और वह पेकिंग के निकट किसी गाँव में रहता था। बरसों से वाङ्चू का संपर्क उसके साथ टूट चूका था। वाङ्चू पहले गाँव के स्कूल में पढ़ता रहा था, बाद में पेकिंग के एक विद्यालय में पढ़ने लगा था। वहीं से वह प्रोफेसर शान के साथ भारत चला आया था।

'सुनो वाङ्चू, भारत और चीन के बीच बंद दरवाजे अब खुल रहे हैं। अब दोनों देशों के बीच संपर्क स्थापित हो रहे हैं और इसका बड़ा महत्व है। अध्ययन का जो काम तुम अभी तक अलग-थलग करते रहे हो, वही अब तुम अपने देश के मान्य प्रतिनिधि के रूप में कर सकते हो। तुम्हारी सरकार तुम्हारे अनुदान का प्रबंध करेगी। अब तुम्हें अलग-थलग पड़े नहीं रहना पड़ेगा। तुम पंद्रह साल से अधिक समय से भारत में रह रहे हो, अंग्रेजी और हिंदी भाषाएँ जानते हो, बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन करते रहे हो, तुम दोनों देशों के सांस्कृतिक संपर्क में एक बहूमूल्य कड़ी बन सकते हो...'

उसकी आँखों में हल्की-सी चमक आई। सचमुच उसे कुछ सुविधाएँ मिल सकती थीं। क्यों न उनसे लाभ उठाया जाए। दोनो देशों के बीच पाई जानेवाली सद्भावना से वह भी प्रभावित हुआ था। उसने बताया कि कुछ ही दिनों पहले अनुदान की रकम लेने जब वह बनारस गया, तो सड़कों पर राह चलते लोग उससे गले मिल रहे थे। मैंने उसे मशविरा दिया कि कुछ समय के लिए जरूर अपने देश लौट जाए और वहाँ होने वाले विराट परिवर्तनों को देखे और समझे कि सारनाथ में अलग-थलग बैठे रहने से उसे कुछ लाभ नहीं होगा, आदि-आदि।

वह सुनता रहा, सिर हिलाता और मुस्कराता रहा, लेकिन मुझे कुछ मालूम नहीं हो पाया कि उस पर कोई असर हुआ है या नहीं। लगभग छह महीने बाद उसका पत्र आया कि वह चीन जा रहा है। मुझे बड़ा संतोष हुआ। अपने देश में जाएगा तो धोबी के कुत्तेवाली उसकी स्थिति खत्म होगी, कहीं का हो कर तो रहेगा। उसके जीवन में नई स्फूर्ति आएगी। उसने लिखा कि वह अपना एक ट्रंक सारनाथ में छोड़े जा रहा है जिसमें उसकी कुछ किताबें और शोध के कागज आदि रखे हैं, कि बरसों तक भारत में रह चुकने के बाद वह अपने को भारत का ही निवासी मानता है, कि वह शीघ्र ही लौट आएगा और फिर अपना अध्ययन-कार्य करने लगेगा। मैं मन-ही-मन हँस दिया, एक बार अपने देश में गया लौट कर यहाँ नहीं आने का।

चीन में वह लगभग दो वर्षों तक रहा। वहाँ से उसने मुझे पेकिंग के प्राचीन राजमहल का चित्रकार्ड भेजा, दो-एक पत्र भी लिखे, पर उनसे मनःस्थिति के बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं मिली।

उन दिनों चीन में भी बड़े वलवले उठ रहे थे, बड़ा जोश था और उस जोश की लपेट में लगभग सभी लोग थे। जीवन नई करवट ले रहा था। लोग काम करने जाते, तो टोलियाँ बना कर, गाते हुए, लाल ध्वज हाथ में उठाए हुए। वाङ्चू सड़क के किनारे खड़ा उन्हें देखता रह जाता। अपने संकोची स्वभाव के कारण वह टोलियों के साथ गाते हुए जा तो नहीं सकता था, लेकिन उन्हें जाते देख कर हैरान-सा खड़ा रहता, मानों किसी दूसरी दूनिया में पहुँच गया हो।

उसे अपना भाई तो नहीं मिला, लेकिन एक पुराना अध्यापक, दूर-पार की उसकी मौसी और दो-एक परिचित मिल गए थे। वह अपने गाँव गया। गाँव में बहुत कुछ बदल गया था। स्टेशन से घर की ओर जाते हुए उसका एक सहयात्री उसे बताने लगा - वहाँ, उस पेड़ के नीचे, जमींदार के सभी कागज, सभी दस्तावेज जला डाले गए थे और जमींदार हाथ बाँधे खड़ा रहा था।

वाङ्चू ने बचपन में जमींदार का बड़ा घर देखा था, उसकी रंगीन खिड़कियाँ उसे अभी भी याद भी। दो-एक बार जमींदार की बग्घी को भी कस्बे की सड़कों पर जाते देखा था। अब वह घर ग्राम प्रशासन केंद्र बना हुआ था और भी बहुत कुछ बदला था। पर यहाँ पर भी उसके लिए वैसी ही स्थिति थी जैसी भारत में रही थी। उसके मन में उछाह नहीं उठता था। दूसरों का उत्साह उसके दिल पर से फिसल-फिसल जाता था। वह यहाँ भी दर्शक ही बना घूमता था। शुरू-शुरू के दिनों में उसकी आवभगत भी हुई। उसके पुराने अध्यापक की पहलकदमी पर उसे स्कूल में आमंत्रित किया गया। भारत-चीन

सांस्कृतिक संबंधों की महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में उसे सम्मानित भी किया गया। वहाँ वाङ्चू देर तक लोगों को भारत के बारे में बताता रहा। लोगों ने तरह-तरह के सवाल पूछे, रीति-रिवाज के बारे में, तीर्थों, मेलों-पर्वों के बारे में, वाङ्चू केवल उन्हीं प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर दे पाता जिनके बारे में वह अपने अनुभव के आधार पर कुछ जानता था। लेकिन बहुत कुछ ऐसा था जिसके बारे में भारत में रहते हुए भी वह कुछ नहीं जानता था।

कुछ दिनों बाद चीन में 'बड़ी छलाँग' की मुहिम जोर पकड़ने लगी। उसके गाँव में भी लोग लोहा इकट्ठा कर रहे थे। एक दिन सुबह उसे भी रद्दी लोहा बटोरने के लिए एक टोली के साथ भेज दिया गया था। दिन-भर वह लोगों के साथ रहा था। एक नया उत्साह चारों ओर व्याप रहा था। एक-एक लोहे का टुकड़ा लोग बड़े गर्व से दिखा-दिखा कर ला रहे थे और साझे ढेर पर डाल रहे थे। रात के वक्त आग के लपलपाते शोलों के बीच उस ढेर को पिघलाया जाने लगा। आग के इर्द-गिर्द बैठे लोग क्रांतिकारी गीत गा रहे थे। सभी लोग एक स्वर में सहगान में भाग ले रहे थे। अकेला वाङ्चू मुँह बाए बैठा था।

चीन में रहते, धीरे-धीरे वातावरण में तनाव-सा आने लगा और एक झुटपुटा-सा घिरने लगा। एक रोज एक आदमी नीले रंग का कोट और नीले ही रंग की पतलून पहने उसके पास आया और उसे अपने साथ ग्राम प्रशासन केंद्र में लिवा ले गया। रास्ते भर वह आदमी चुप बना रहा। केंद्र में पहुँचने पर उसने पाया कि एक बड़े-से कमरे में पाँच व्यक्तियों का एक दल मेज के पीछे बैठा उसकी राह देख रहा है।

जब वाङ्चू उनके सामने बैठ गया, तो वे बारी-बारी से उसके भारत निवास के बारे में पूछने लगे - 'तुम भारत में कितने वर्षों तक रहे?...' वहाँ पर क्या करते थे?'...'कहाँ-कहाँ घूमे?' आदि-आदि। फिर बौद्ध धर्म के प्रति वाङ्चू की जिज्ञासा के बारे में जान कर उनमें से एक व्यक्ति बोला, 'तुम क्या सोचते हो, बौद्ध धर्म का भौतिक आधार क्या है?'

सवाल वाङ्चू की समझ में नहीं आया। उसने आँखें मिचमिचाईं।

'द्वंद्वात्मक भौतिकवादी की दृष्टि से तुम बौद्ध धर्म को कैसे आँकते हो?'

सवाल फिर भी वाङ्चू की समझ में नहीं आया, लेकिन उसने बुदबुदाते हुए उत्तर दिया, 'मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए उसके सुख और शांति के लिए बौद्ध धर्म का पथ-प्रदर्शन बहुत ही महत्वपूर्ण है। महाप्राण के उपदेश...'

और वाङ्चू बौद्ध धर्म के आठ उपदेशों की व्याख्या करने लगा। वह अपना कथन अभी समाप्त नहीं कर पाया था जब प्रधान की कुर्सी पर बैठे पैनी तिरछी आँखों वाले एक व्यक्ति ने बात काट कर कहा, 'भारत की विदेशी-नीति के बारे में तुम क्या सोचते है?'

वाङ्चू मुस्कराया अपनी डेढ़ दाँत की मुस्कान, फिर बोला, 'आप भद्रजन इस संबंध में ज्यादा जानते हैं। मैं तो साधारण बौद्ध जिज्ञासु हूँ। पर भारत बड़ा प्राचीन देश है। उसकी संस्कृति शांति और मानवीय सद्भावना की संस्कृति है...

'नेहरू के बारे में तुम क्या सोचते हो?'

'नेहरू को मैंने तीन बार देखा है। एक बार तो उनसे बातें भी की हैं।

उन पर पश्चिमी विज्ञान का प्रभाव है, परंतु प्राचीन संस्कृति के वह भी बड़े प्रशंसक हैं।'

उसके उत्तर सुनते हुए कुछ सदस्य तो सिर हिलाने लगे, कुछ का चेहरा तमतमाने लगा। फिर तरह-तरह के पैने सवाल पूछे जाने लगे। उन्होंने पाया कि जहाँ तक तथ्यों का और भारत के वर्तमान जीवन का सवाल है, वाङ्चू की जानकारी अधूरी और हास्यास्पद है।

'राजनीतिक दृष्टि से तो तुम शून्य हो। बौद्ध धर्म की अवधारणाओं को भी समाजशास्त्र की दृष्टि से तुम आँक नही सकते। न जाने वहाँ बैठे क्या करते रहे हो! पर हम तुम्हारी मदद करेंगे।'

पूछताछ घंटों तक चलती रही। पार्टी-अधिकारियों ने उसे हिंदी पढ़ाने का काम दे दिया, साथ ही पेकिंग के संग्रहालय मे सप्ताह में दो दिन काम करने की भी इजाजत दे दी।

जब वाङ्चू पार्टी-दफ्तर से लौटा तो थका हुआ था। उसका सिर भन्ना रहा था। अपने देश में उसका दिल जम नहीं पाया था। आज वह और भी ज्यादा उखड़ा-उखड़ा महसूस कर रहा था। छप्पर के नीचे लेटा तो उसे सहसा ही भारत की याद सताने लगी। उसे सारनाथ की अपनी कोठरी याद आई जिसमें दिन-भर बैठा पोथी बाँचा करता था। नीम का घना पेड़ याद आया जिसके नीचे कभी-कभी सुस्ताया करता था। स्मृतियों की श्रृंखला लंबी होती गई। सारनाथ की कैंटीन का रसोइया याद आया जो सदा प्यार से मिलता था, सदा हाथ जोड़ कर 'कहो भगवान' कह कर अभिवादन करता था।

एक बार वाङ्चू बीमार पड़ गया था तो दूसरे रोज कैंटीन का रसोईया अपने-आप उसकी कोठरी में चला आया था - 'मैं भी कहूँ, चीनी बाबू चाय पीने नहीं आए, दो दिन हो गए! पहले आते थे, तो दर्शन हो जाते थे। हमें खबर की होती भगवान, तो हम डाक्टर बाबू को बुला लाते... मैं भी कहूँ, बात क्या है।' फिर उसकी आँखों के सामने गंगा का तट आया जिस पर वह घंटों घूमा करता था। फिर सहसा दृश्य बदल गया और कश्मीर की झील आँखों के सामने आ गई और पीछे हिमाच्छादित पर्वत, फिर नीलम सामने आई, उसकी खुली-खुली आँखें, मोतियों-सी झिलमिलाती दंतपंक्ति... उसका दिल बेचैन हो उठा।

ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, भारत की याद उसे ज्यादा परेशान करने लगी।

वह जल में से बाहर फेंकी हुई मछली की तरह तड़पने लगा। सारनाथ के विहार में सवाल-जवाब नहीं होते थे। जहाँ पड़े रहो, पड़े रहो। रहने के लिए कोठरी और भोजन का प्रबंध विहार की ओर से था। यहाँ पर नई दृष्टि से धर्मग्रंथों को पढ़ने और समझने के लिए उसमें धैर्य नहीं था, जिज्ञासा भी नहीं थी। बरसों तक एक ढर्रे पर चलते रहने के कारण वह परिवर्तन से कतराता था। इस बैठक के बाद वह फिर से सकुचाने-सिमटने लगा था। कहीं-कहीं पर उसे भारत सरकार-विरोधी वाक्य सुनने को मिलते। सहसा वाङ्चू बेहद अकेला महसूस करने लगा और उसे लगा कि जिंदा रह पाने के लिए उसे अपने लड़कपन के उस 'दिवा-स्वप्न' में फिर से लौट जाना होगा, जब वह बौद्ध भिक्षु बन कर भारत में विचरने की कल्पना करता था।

उसने सहसा भारत लौटने की ठान ली। लौटना आसान नहीं था। भारतीय दूतावास से तो वीजा मिलने में कठिनाई नहीं हुई, लेकिन चीन की सरकार ने बहुत-से ऐतराज उठाए। वाङ्चू की नागरिकता का सवाल था, और अनेक सवाल थे। पर भारत और चीन के संबंध अभी तक बहुत बिगड़े नहीं थे, इसलिए अंत में वाङ्चू को भारत लौटने की इजाजत मिल गई। उसने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि वह भारत में ही अब जिंदगी के दिन काटेगा। बौद्ध भिक्षु ही बने रहना उसकी नियति थी।

जिस रोज वह कलकत्ता पहुँचा, उसी रोज सीमा पर चीनी और भारतीय सैनिकों के बीच मुठभेड़ हुई थी और दस भारतीय सैनिक मारे गए थे। उसने पाया कि लोग घूर-घूर कर उसकी ओर देख रहे हैं। वह स्टेशन के बाहर अभी निकला ही था, जब दो सिपाही आ कर उसे पुलिस के दफ्तर में ले गए और वहाँ घंटे-भर एक अधिकारी उसके पासपोर्ट और कागजों की छानबीन करता रहा।

'दो बरस पहले आप चीन गए थे। वहाँ जाने का क्या प्रयोजन था**?**'

'मैं बहुत बरस तक यहाँ रहता रहा था, कुछ समय के लिए अपने देश जाना चाहता था।' पुलिस-अधिकारी ने उसे सिर से पैर तक देखा। वाङ्चू आश्वस्त था और मुस्करा रहा था - वहीं टेढ़ी-सी मुस्कान।

'आप वहाँ क्या करते रहे?'

'वहाँ एक कम्यून में मैं खेती-बारी की टोली में काम करता था।'

'मगर आप तो कहते हैं कि आप बौद्ध ग्रथ पढ़ते हैं?'

'हाँ, पेकिंग में मैं एक संस्था में हिंदी पढ़ाने लगा था और पेकिंग म्यूजियम में मुझे काम करने की इजाजत मिल गई थी।'

'अगर इजाजत मिल गई थी तो आप अपने देश से भाग क्यों आए?' पुलिस-अधिकारी ने गुस्से में कहा।

वाङ्चू क्या जवाब दे? क्या कहे?

'मैं कुछ समय के लिए ही वहाँ गया था, अब लौट आया हूँ...'

पुलिस-अधिकारी ने फिर से सिर से पाँव तक उसे घूर कर देखा, उसकी आँखों में संशय उतर आया था। वाङ्चू अटपटा-सा महसूस करने लगा। भारत में पुलिस-अधिकारियों के सामने खड़े होने का उसका पहला अनुभव था। उससे जामिनी के लिए पूछा गया, तो उसने प्रोफेसर तान-शान का नाम लिया, फिर गुरूदेव का, पर दोनों मर चुके थे। उसने सारनाथ की संस्था के मंत्री का नाम लिया, शांतिनिकेतन के पुराने दो-एक सहयोगियों के नाम लिए, जो उसे याद थे। सुपरिंटेंडेंट ने सभी नाम और पते नोट कर लिए। उसके कपड़ों की तीन बार तलाशी ली गई। उसकी डायरी को रख लिया गया जिसमें उसने अनेक उद्धरण और टिप्पणियाँ लिख रहे थे और सुपरिंटेंडेंट ने उसके नाम के आगे टिप्पणी लिख दी कि इस आदमी पर नजर रखने की जरूरत है।

रेल के डिब्बे में बैठा, तो मुसाफिर गोली-कांड की चर्चा कर रहे थे उसे बैठते देख सब चुप हो गए और उसकी ओर घूरने लगे। कुछ देर बाद जब मुसाफिरों ने देखा कि वह थोड़ी-बहुत बंगाली और हिंदी बोल लेता है, तो एक बंगाली बाबू उचक कर उठ खड़े हुए और हाथ झटक-झटक कर कहने लगे, 'या तो कहो कि तुम्हारे देशवालों ने विश्वासघात किया है, नहीं तो हमारे देश से निकल जाओ... निकल जाओ... निकल जाओ!'

डेढ़ दाँत की मुस्कान जाने कहाँ ओझल हो चुकी थी। उसकी जगह चेहरे पर त्रास उतर आया था। भयाकुल और मौन वाङ्चू चुपचाप बैठा रहा। कहे भी तो क्या कहे? गोली-कांड के बारे में जान कर उसे भी गहरा धक्का लगा था। उस झगड़े के कारण के बारे में उसे कुछ भी स्पष्ट मालूम नहीं था और वह जानना चाहता भी नहीं था।

हाँ, सारनाथ में पहुँचकर वह सचमुच भावविह्वल हो उठा। अपना थैला रिक्शा में रखे जब वह आश्रम के निकट पहुँचा, तो कैंटीन का रसोइया सचमुच लपक कर बाहर निकल आया - 'आ गए भगवान! आ गए मेरे चीनी बाबू! बहुत दिनों बाद दर्शन दिए! हम भी कहें, इतने अरसा हो गया चीनी बाबू नहीं लौटे! और कहिए, सब कुशल-मंगल है? आप यहाँ नहीं थे, हम कहें जाने कब लौटेंगे। यहाँ पर थे तो दिन में दो बातें हो जाती थीं, भले आदमी के दर्शन हो जाते थे। इससे बड़ा पुण्य होता है।' और उसने हाथ बढ़ा कर थैला उठा लिया, 'हम दें पैसे, चीनी बाबू?

वाङ्चू को लगा, 'जैसे वह अपने घर पहुँच गया है।

'आपकी ट्रंक, चीनी बाबू, हमारे पास रखी है। मंत्रीजी से हमने ले ली। आपकी कोठरी में एक दूसरे सज्जन रहने आए, तो हमने कहा कोई चिंता नहीं, यह ट्रंक हमारे पास रख जाइए, और चीनी बाबू, आप अपना लोटा बाहर ही भूल गए थे। हमने मंत्रीजी से कहा, यह लोटा चीनी बाबू का है, हम जानते हैं, हमारे पास छोड़ जाइए।'

वाङ्चू का दिल भर-भर आया। उसे लगा, जैसे उसकी डावाँडोल जिंदगी में संतुलन आ गया है। डगमगाती जीवन-नौका फिर से स्थिर गति से चलने लगी है। मंत्रीजी भी स्नेह से मिले। पुरानी जान-पहचान के आदमी थे। उन्होंने एक कोठरी भी खोल कर दे दी, परंतु अनुदान के बारे में कहा कि उसके लिए फिर से कोशिश करनी होगी। वाङ्चू ने फिर से कोठरी के बीचोंबीच चटाई बिछा ली, खिड़की के बाहर वही दृश्य फिर से उभर आया। खोया हुआ जीव अपने स्थान पर लौट आया।

तभी मुझे उसका पत्र मिला कि वह भारत लौट आया है और फिर से जम कर बौद्धग्रंथों का अध्ययन करने लगा है। उसने यह भी लिखा कि उसे मासिक अनुदान के बारे में थोड़ी चिंता है और इस सिलसिले में मैं बनारस में यदि अमुक सज्जन को पत्र लिख दूँ, तो अनुदान मिलने में सहायता होगी।

पत्र पा कर मुझे खटका हुआ। कौन-सी मृगतृष्णा इसे फिर से वापस खींच लाई है? यह लौट क्यों आया है? अगर कुछ दिन और वहाँ बना रहता तो अपने लोगों के बीच इसका मन लगने लगता। पर किसी की सनक का कोई इलाज नहीं। अब जो लौट आया है, तो

क्या चारा है! मैंने 'अमुक' जी को पत्र लिख दिया और वाङ्चू के अनुदान का छोटा-मोटा प्रबंध हो गया।

पर लौटने के दसेक दिन बाद वाङ्चू एक दिन प्रातः चटाई पर बैठा एक ग्रंथ पढ़ रहा था और बार-बार पुलक रहा था, जब उसकी किताब पर किसी का साया पड़ा। उसने नजर उठा कर देखा, तो पुलिस का थानेदार खड़ा था, हाथ में एक पर्चा उठाए हुए। वाङ्चू को बनारस के बड़े पुलिस स्टेशन में बुलाया गया था। वाङ्चू का मन आशंका से भर उठा था।

तीन दिन बाद वाङ्चू बनारस के पुलिस के बरामदे में बैठी था। उसी के साथ बेंच पर बड़ी उम्र का एक और चीनी व्यक्ति बैठा था जो जूते बनाने का काम करता था। आखिर बुलावा आया और वाङ्चू चिक उठा कर बड़े अधिकारी की मेज के सामने जा खड़ा हुआ।

'तुम चीन से कब लौटे?'

वाङ्चू ने बता दिया।

'कलकत्ता में तुमने अपने बयान में कहा कि तुम शांतिनिकेतन जा रहे हो, फिर तुम यहाँ क्यों चले आए? पुलिस को पता लगाने में बड़ी परेशानी उठानी पड़ी है।'

'मैंने दोनों स्थानों के बारे में कहा था। शांतिनिकेतन तो मैं केवल दो दिन के लिए जाना चाहता था।'

'मैं भारत में रहना चाहता हूँ...।' उसने पहले का जवाब दोहरा दिया।

'जो लौट आना था, तो गए क्यों थे?'

यह सवाल वह बहुत बार पहले भी सुन चुका था। जवाब में बौद्धग्रंथों का हवाला देने के अतिरिक्त उसे कोई और उत्तर नहीं सूझ पाता था।

बहुत लंबी इंटरव्यू नहीं हुई। वाङ्चू को हिदायत की गई कि हर महीने के पहले सोमवार को बनारस के बड़े पुलिस स्टेशन में उसे आना होगा और अपनी हाजिरी लिखानी होगी।

वाङ्चू बाहर आ गया, पर खिन्न-सा महसूस करने लगा। महीने में एक बार आना कोई बड़ी बात नहीं थी, लेकिन वह उसके समतल जीवन में बाधा थी, व्यवधान था। वाङ्चू

मन-ही-मन इतना खिन्न-सा महसूस कर रहा था कि बनारस से लौटने के बाद कोठरी में जाने की बजाय वह सबसे पहले उस नीरव पुण्य स्थान पर जा कर बैठ गया, जहाँ शताब्दियों पहले महाप्राण ने अपना पहला प्रवचन किया था, और देर तक बैठा मनन करता रहा। बहुत देर बाद उसका मन फिर से ठिकाने पर आने लगा और दिल में फिर से भावना की तरंगे उठने लगीं।

पर वाङ्चू को चैन नसीब नहीं हुआ। कुछ ही दिन बाद सहसा चीन और भारत के बीच जंग छिड़ गई। देश-भर में जैसे तूफान उठा खड़ा हुआ। उसी रोज शाम को पुलिस के कुछ अधिकारी एक जीप में आए और वाङ्चू को हिरासत में ले कर बनारस चले गए। सरकार यह न करती, तो और क्या करती? शासन करनेवालों को इतनी फुरसत कहाँ कि संकट के समय संवेदना और सद्भावना के साथ दुश्मन के एक-एक नागरिक की स्थिति की जाँच करते फिरें?

दो दिनों तक दोनों चीनियों को पुलिस स्टेशन की एक कोठरी में रखा गया। दोनों के बीच किसी बात में भी समानता नहीं थी। जूते बनानेवाला चीनी सारा वक्त सिगरेट फूँकता रहता और घुटनों पर कोहनियाँ टिकाए बड़बड़ाता रहता, जबकि वाङ्चू उद्भ्रांत और निढाल-सा दीवार के साथ पीठ लगाए बैठा शून्य में देखता रहता।

जिस समय वाङ्चू अपनी स्थिति को समझने की कोशिश कर रहा था, उसी समय दो-तीन कमरे छोड़ कर पुलिस सुपरिंटेंडेंट की मेज पर उसकी छोटी-सी पोटली की तलाशी ली जा रही थी। उसकी गैरमौजूदगी में पुलिस के सिपाही कोठरी में से उसका ट्रंक उठा लाए थे। सुपरिंटेंडेंट के सामने कागजों का पुलिंदा रखा था, जिस पर कहीं पाली में तो कहीं संस्कृत भाषा में उद्धरण लिखे थे।

लेकिन बहुत-सा हिस्सा चीनी भाषा में था। साहब कुछ देर तक तो कागजों में उलटते-पलटे रहे, रोशनी के सामने रख कर उनमें लिखी किसी गुप्त भाषा को ढूँढ़ते भी रहे, अंत मे उन्होंने हुक्म दिया कि कागजों के पुलिंदे को बाँध कर दिल्ली के अधिकारियों के पास भेज दिया जाए, क्योंकि बनारस में कोई आदमी चीनी भाषा नहीं जानता था।

पाँचवें दिन लड़ाई बंद हो गई, लेकिन वाङ्चू के सारनाथ लौटने की इजाजत एक महीने के बाद मिली। चलते समय जब उसे उसका ट्रंक दिया गया और उसने उसे खोल कर देखा, तो सकते में आ गया। उसके कागज उसमें नहीं थे, जिस पर वह बरसों से अपनी टिप्पणियाँ और लेखादि लिखता रहा था और जो एक तरह से उसके सर्वस्व थे। पुलिस

अधिकारी के कहने पर कि उन्हें दिल्ली भेज दिया गया है, वह सिर से पैर तक काँप उठा था।

'वे मेरे कागज आप मुझे दे दीजिए। उन पर मैंने बहुत कुछ लिखा है, वे बहुत जरूरी हैं।'

इस पर अधिकारी रुखाई से बोला, 'मुझे उन कागजों का क्या करना है, आपके हैं, आपको मिल जाएँगे।' और उसने वाङ्चू को चलता किया। वाङ्चू अपनी कोठरी में लौट आया। अपने कागजों के बिना वह अधमरा-सा हो रहा था। न पढ़ने में मन लगता, न कागजों पर नए उद्धरण उतारने में। और फिर उस पर कड़ी निगरानी रखी जाने लगी थी। खिड़की से थोड़ा हट कर नीम के पेड़ के नीचे एक आदमी रोज बैठा नजर आने लगा। डंडा हाथ में लिए वह कभी एक करवट बैठता, कभी दूसरी करवट। कभी उठ कर डोलने लगता। कभी कुएँ की जगत पर जा बैठता, कभी कैंटीन की बेंच पर आ बैठता, कभी गेट पर जा खड़ा होता। इसके अतिरिक्त अब वाङ्चू को महीने में एक बार के स्थान पर सप्ताह में एक बार बनारस मे हाजिरी लगवाने जाना पड़ता था।

तभी मुझे वाङ्चू की चिट्ठी मिली। सारा ब्यौरा देने के बाद उसने लिखा कि बौद्ध विहार का मंत्री बदल गया है और नए मंत्री को चीन से नफरत है और वाङ्चू को डर है कि अनुदान मिलना बंद हो जाएगा। दूसरे, कि मैं जैसे भी हो उसके कागजों को बचा लूँ। जैसे भी बन पड़े, उन्हें पुलिस के हाथों से निकलवा कर सारनाथ में उसके पास भिजवा दूँ। और अगर बनारस के पुलिस स्टेशन में प्रति सप्ताह पेश होने की बजाय उसे महीने में एक बार जाना पड़े तो उसके लिए सुविधाजनक होगा, क्योंकि इस तरह महीने में लगभग दस रुपए आने-जाने में लग जाते हैं और फिर काम में मन ही नहीं लगता, सिर पर तलवार टँगी रहती है।

वाङ्चू ने पत्र तो लिख दिया, लेकिन उसने यह नहीं सोचा कि मुझ जैसे आदमी से यह काम नहीं हो पाएगा। हमारे यहाँ कोई काम बिना जान-पहचान और सिफारिश के नहीं हो सकता। और मेरे परिचय का बड़े-से बड़ा आदमी मेरे कॉलेज का प्रिंसिपल था। फिर भी मैं कुछेक संसद-सदस्यों के पास गया, एक ने दूसरे की ओर भेजा, दूसरे ने तीसरे की ओर। भटक-भटक कर लौट आया। आश्वासन तो बहुत मिले, पर सब यही पूछते - 'वह चीन जो गया था वहाँ से लौट क्यों आया?' या फिर पूछते - 'पिछले बीस साल से अध्ययन ही कर रहा है?'

पर जब मैं उसकी पांडुलिपियों का जिक्र करता, तो सभी यही कहते, 'हाँ, यह तो कठिन नहीं होना चाहिए।' और सामने रखे कागज पर कुछ नोट कर लेते। इस तरह के

आश्वासन मुझे बहुत मिले। सभी सामने रखे कागज पर मेरा आग्रह नोट कर लेते। पर सरकारी काम के रास्ते चक्रव्यूह के रास्तों के सामने होते हैं और हर मोड़ पर कोई-न-कोई आदमी तुम्हें तुम्हारी हैसियत का बोध कराता रहता है। मैंने जवाब में उसे अपनी कोशिशों का पूरा ब्यौरा दिया, यह भी आश्वासन दिया कि मैं फिर लोगों से मिलूँगा, पर साथ ही मैंने यह भी सुझाव दिया कि जब स्थिति बेहतर हो जाए, तो वह अपने देश वापस लौट जाए, उसके लिए यही बेहतर है।

खत से उसके दिल की क्या प्रतिक्रिया हुई, मैं नहीं जानता। उसने क्या सोचा होगा? पर उन तनाव के दिनों में जब मुझे स्वयं चीन के व्यवहार पर गुस्सा आ रहा था, मैं वाङ्चू की स्थिति को बहुत सहानुभूति के साथ नहीं देख सकता था।

उसका फिर एक खत आया। उसमें चीन लौट जाने का काई जिक्र नहीं था। उसमें केवल अनुदान की चर्चा की गई थी। अनुदान की रकम अभी भी चालीस रुपए ही थी, लेकिन उसे पूर्व सूचना दे दी गई थी कि साल खत्म होने पर उस पर फिर से विचार किया जाएगा कि वह मिलती रहेगी या बंद कर दी जाएगी। लगभग साल-भर बाद वाङ्चू को एक पुर्जा मिला कि तुम्हारे कागज वापस किए जा सकते हैं, कि तुम पुलिस स्टेशन आ कर उन्हें ले जा सकते हो। उन दिनों वह बीमार पड़ा था, लेकिन बीमारी की हालत में भी वह गिरता-पड़ता बनारस पहुँचा। लेकिन उसके हाथ एक-तिहाई कागज लगे। पोटली अभी भी अधखुली थी। वाङ्चू को पहले तो यकीन नहीं आया, फिर उसका चेहरा जर्द पड़ गया और हाथ-पैर काँपने लगे। इस पर थानेदार रुखाई के साथ बोला, 'हम कुछ नहीं जानते! इन्हें उठाओ और यहाँ से ले जाओ वरना इधर लिख दो कि हम लेने से इनकार करते हैं।

काँपती टाँगों से वाङ्चू पुलिंदा बगल में दबाए लौट आया। कागजों में केवल एक पूरा निबंध और कुछ टिप्पणियाँ बची थीं।

उसी दिन से वाङ्चू की आँखों के सामने धूल उड़ने लगी थी।

वाङ्चू की मौत की खबर मुझे महीने-भर बाद मिली, वह भी बौद्ध विहार के मंत्री की ओर से। मरने से पहले वाङ्चू ने आग्रह किया था उसका छोटा-सा ट्रंक और उसकी गिनी चुनी किताबें मुझे पहुँचा दी जाएँ।

उम्र के इस हिस्से में पहुँचकर इंसान बुरी खबरें सुनने का आदी हो जाता है और वे दिल पर गहरा आघात नहीं करतीं। मैं फौरन सारनाथ नहीं जा पाया, जाने में कोई तुक भी नहीं थी, क्योंकि वहाँ वाङ्चू का कौन बैठा था, जिसके सामने अफसोस करता, वहाँ तो

केवल ट्रंक ही रखा था। पर कुछ दिनों बाद मौका मिलने पर मैं गया। मंत्रीजी ने वाङ्चू के

प्रति सद्भावना के शब्द कहे - 'बड़ा नेकदिल आदमी था, सच्चे अर्थों में बौद्ध भिक्षु था,' आदि-आदि। मेरे दस्तखत ले कर उन्होंने ट्रंक में वाङ्चू के कपड़े थे, वह फटा-पुराना चोगा था, जो नीलम ने उसे उपहारस्वरूप दिया था। तीन-चार किताबें थीं, पाली की और संस्कृत की। चिट्ठियाँ थीं, जिनमें कुछ चिट्ठियाँ मेरी, कुछ नीलम की रही होंगी, कुछ और लोगों की। ट्रंक उठाए मैं बाहर की ओर जा रहा था जब मुझे अपने पीछे कदमों की आहट मिली। मैंने मुड़ कर देखा, कैंटीन का रसोइया भागता चला आ रहा था।

अपने पत्रों में अक्सर वाङ्चू उसका जिक्र किया करता था...

'बाबू आपको बहुत याद करते थे। मेरे साथ आपकी चर्चा बहुत करते थे। बहुत भले आदमी थे...'

और उसकी आँखें डबडबा गईं। सारे संसार में शायद यही अकेला जीव था, जिसने वाङ्चू की मौत पर दो आँसू बहाए थे।

'बड़ी भोली तबीयत थी। बेचारे को पुलिसवालों ने बहुत परेशान किया। शुरू-शुरू में तो चैबीस घंटे की निगरानी रहती थी। मैं उस हवलदार से कहूँ, भैया, तू क्यों इस बेचारे को परेशान करता है? वह कहे, मैं तो ड्यूटी कर रहा हूँ...!'

मैं ट्रंक और कागजों का पुलिंदा ले आया हूँ। इस पुलिंदे का क्या करूँ? कभी सोचता हूँ, इसे छपवा डालूँ। पर अधूरी पांडुलिपि को कौन छापेगा? पत्नी रोज बिगड़ती है कि मैं घर में कचरा भरता जा रहा हूँ। दो-तीन बार वह फेंकने की धमकी भी दे चुकी है, पर मैं इसे छिपाता रहता हूँ। कभी किसी तख्ते पर रख देता हूँ, कभी पलँग के नीचे छिपा देता हूँ। पर मैं जानता हूँ किसी दिन ये भी गली में फेंक दिए जाएँगे।